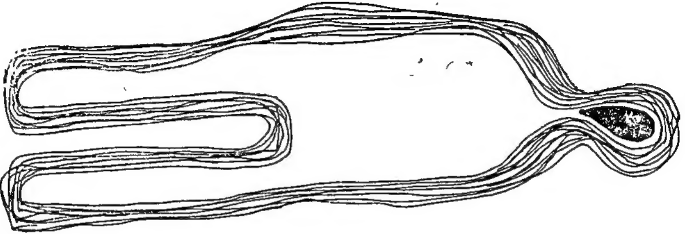
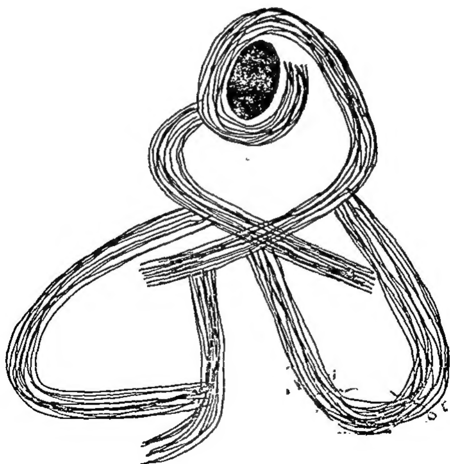

सुबह कुछ

शाम कुछ

विजय अग्रवाल



प्रकाशक
शब्दपीठ
आनन्द भवन के सामने
कर्नलगंज, इलाहाबाद-२११००२

•

मुद्रक
राज लक्ष्मी प्रेस
२ सी/१ चिन्तामणि घोष रोड
कटरा, इलाहाबाद-२११००२

•

आवरण एवं सज्जा
इम्पैक्ट, इलाहाबाद-२११००१

•

मूल्य
पचीस रुपये

•

प्रथम संस्करण : १९८४ ईसवी

भोजी के लिए

दो शब्द

श्री विजय अग्रवाल अपनी सृजनशील अभिव्यक्ति के कई माध्यम रखते हैं। वे अच्छे छात्र रहे हैं, अतः वैचारिक अभिव्यक्ति भी स्वभावत: उनके पास है। वे फोटोग्राफी कला में भी विशेष रुचि तथा मर्मस्पर्शी दृष्टि रखते हैं और उनके चित्र चर्चित भी होते रहे हैं।

वे नई पीढ़ी के कवि भी हैं, जिसका प्रमाण उनका 'सुबह कुछ : शाम कुछ' शीर्षक काव्य संग्रह है।

काव्य सृजन के सम्बन्ध मे दो स्पष्ट मत हैं। एक के अनुसार रचना-धर्मिता कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मात्र है, परन्तु दूसरा काव्य सृजन को निर्वैयक्तिक प्रातिभ सृजन मानता है।

आधुनिक युग का कवि निर्वैयक्तिकता में विश्वास नहीं करता, अत: उसके चारो ओर जो घटित हो रहा है और जिससे वह प्रभाव ग्रहण करता है, उसी को व्यक्त करता है। मानव इतिहास प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, अतः किसी सर्वकालीन पीठिका के अभाव मे वह दीर्घजीवी होने का स्वप्न नही देखता। ऐसी स्थिति में आघात-प्रत्याघात, व्यंग, उपहास तथा यथा-तथ्य चित्रण काव्य के प्रिय विषय हो गए हैं।

मुझे प्रसन्नता है कि श्री विजय को आज की परिस्थितियो के चित्रण मे सफलता मिली है। उन्होने फोटोग्राफी के समान जीवन को कई दृष्टियो से देखने का प्रयत्न किया है। आशा है समय के प्रवाह में मँज कर उनकी अभिव्यक्ति अधिक पूर्ण हो सकेगी।

प्रयाग
१०-८-८३

अनुक्रम

•

• • •

सुबह कुछ : शाम कुछ

आकांक्षा

वे
अब सापों को
दूध पिला रहे है—
इसी आशा में कि
उनसे
खुद को डँसवायेंगे
और
उन्ही की तरह
जहरीले हो जायेंगे !

नियति

प्रकृति में
हो रहा है
न जाने कैसा परिवर्तन
अब
हर फूल
कोबरा बन डँसने लगा है
उनके डँसने से
मेरा हर अंग
हो गया है जहरीला ।

मुझे आश्चर्य है
अभी तक मैं
कोबरा
क्यों नहीं बना ?

एक चुप्पी

जीने के लिए
अब
जरूरी हो गया है
मुंह छुपा कर रहना
कछुवे की तरह
चुपचाप,
पथरीला कर लेना
अपनी सतह को
और
मूकद्रष्टा बन,
सब कुछ
देखते जाना !

वह कहीं नहीं होता

टूट कर स्वय
जोड़ता है वह
एक एक ईंट
और
तैयार होती है जब
भव्य अट्टालिका
उस पर
'वह'
कही नही होता !

एक प्रश्न तुमसे

फूल,
चुभने लगें यदि
काँटे बन जायें
तो निकाल फेंकना चाहिए उन्हें
यही तो होता रहा है
आज तक !

खिले हुए
गुलमोहर के नीचे,
बैठा था मैं चुपचाप,
घेर लिया अचानक
बबूल के
बड़े बड़े काँटों ने मुझे
चारों ओर से।

और मैं
भागा
·दौडा हर तरफ
बैठ गया लहूलुहान हो कर
बहुत देर हो चुकी थी शायद
जब मुझे होश आया ·

मैं
सोचता रहा
किसने बोये थे ये बबूल के काँटे ?
तुमने या मैंने ?

?

रिहा करने का
मुट्ठी में बंद
एक जिन्दगी को
क्या लोगे ?
क्या लोगे—
तुम ??

मत जाओ उधर

मत जाओ
उस ओर
खंडहर है जिधर !

टूटती,
गिरती
दीवारो की आवाज में,
घुट कर
मर जायेगी तुम्हारी आशाएँ
उखड़ जायेगी तुम्हारी साँस
क्योंकि तुमने
खुली बारादरी मे
खड़े हो कर
खुद को
जिया है ।

अहसास

खो गयी है
मेरी कहानी की
वह किताब
सँभाल कर
रखा था जिसे मैंने
वर्षों से

न जाने कैसे
देखते देखते
ओझल हो गयी अचानक
मेरी आँखों के सामने से वह
और
रह गया
उस जगह सिर्फ
एक अहसास —

दर्द का अहसास
घुटन का अहसास
और
मेरे
असहाय होने का अहसास !

पागल

मिला था मुझे
कल
बियावान जंगली रास्तों से
गुजरते हुए
एक
नर कंकाल ।

पेट और पीठ पर
अपनी
हड्डीदार हथेलियों को
रखे हुए एक साथ,
बोला था वह मुझसे
जा रहे हो तुम
जिस जमीन पर
उधर

जाना मना है
जानते हो क्यूं ?

सीमा पर मरे
जवान की
जवान विधवा को
चंदा देने का
अधिकार तो है तुम्हे
पर
उसका सहारा बनने का हक नही

कह सकते हो तुम
किसी को अपनी बहन
लेकिन,
पकड़ कर नही चल सकते
उसकी उँगलियाँ,
क्योंकि
कुछ
कमीन लोगो की
मानसिक उपलब्धियाँ
तुम्हे
यह हक नही देती।

किसी को
पुकार सकते हो तुम

अपनी माँ
लेकिन,
लिपट कर उसके गले से
उसके आँचल में
छिपा नही सकते अपना सिर।

चीख चीख कर
रो नही सकते तुम
किसी की मौत पर
क्योंकि तब तुम्हें लोग
समझेंगे एक नाटककार।

व्यक्त क रोगे यदि
कही संवेदना
लोग
कहेंगे तुम्हें हँस कर
पागल !

हाँ !
पागल हो तुम
जन्म से
क्योंकि तुम,
संवेदनशील हो।

तुम्हे
क्यों नही मारते लोग पत्थर

जब तुम
गुजरते हो सड़कों से
हाथों में लेकर
सिर्फ इंटें
खदेड़ देते है वे तुम्हें
दूर दूर तक।

पीटते है तालियाँ
चीखते है
मारो मारो
पागल है यह
और तुम !
तुम
जो सचमुच
पागल नही हो
समझने लगते हो
अपने आप को
पागल।

इधर से उधर
इस गली से
उस गली
इस घर से
उस घर
भागते हो !

कूदते हो !!
छलांगे मारते हो !!!

अंत में
हासिल होता है तुम्हें
एक
'खूबसूरत (?) पागल पन'
मेरी शक्ल का।

पेट और पीठ
जुड जाते है
और
पेट के गड्ढों में
भर जाती है
हथेलियों की हड्डियाँ
इससे बड़ी उपलब्धि (?)
इन रास्तों की
कोई नहीं !
शायद
कोई नही !!

चिपका लेना एक चुप्पी

न हो यदि जरूरी
बोलना
तो
चुपचाप
चिपका लो, होठों पर
एक चुप्पी
नही तो
सी दिये जायेंगे तुम्हारे होठ ।

सच है यह कि
जब
नहीं रहे वे
हिटलर और
नादिरशाह
फिर भी

जरूरी है .
चिपका लेना एक चुप्पी
अपने होठों पर।

जरूरी हो गया है अब यह मुहावरा
अपने अस्तित्व की
रक्षा के लिए।

उजड़ते शहर का 'मिथक'

इस
उजड़ते शहर में
खोजते हैं हम
कुछ
खूबसूरत शामें।

खिलने लगा है
मेरे ड्राइंगरूम में रखा
कैक्टस
झाँकती है उसमें से
हरीतिमा में लिपटी
तुम्हारी लाल मुस्कुराहट
और
इसीलिए शायद
खोज रहे हैं हम
एक खूबसूरत 'मिथक'
इस उजड़ते शहर में।

तुम्हारी याद

उन रास्तों पर
जिन पर तुम
अपनी पायलें छनकाती
गुजरती थीं
अब
उग आये है
कँटीले पौधे
जो
पहुँचते हैं वहाँ तक
जहाँ,
कभी हुआ करता था
एक बड़ा सा पेड़
हर सिंगार का।

फूलता है वह अब भी,
पहले की तरह

लेकिन
नहीं रही उसके नीचे
वह
गुलाबी सफेद चादर
जहाँ बैठ कर
बिखेर देती थी तुम
एक
खूबसूरत वसन्त

फूलता है वहाँ अब
एक अजीब मौसम
पतझड़ का
कहता है जो,
एक दास्तान
शायद
हमारी तुम्हारी।

यथार्थ का दर्द

कल
देखा मैंने
एक भयावह सपना ।

विभाजित करता रहा वह
मेरे जिस्म को,
मास के एक एक टुकड़े को
उछालता रहा हवा में
अट्टहास करता रहा
जोर जोर से
और तुम !
दूर खड़े
देखते रहे
मेरे बिखरते जिस्म को
स्तब्ध थे
कुछ भी तो बोल नहीं रहे थे ।

मैंने देखा, सहसा
मेरे जिस्म का
एक टुकड़ा
हवा में लहराता
बढ गया था तुम्हारी तरफ
जैसे ही गिरा वह
तुम्हारे कदमो पर
टपक पड़े थे
दो बूँद आँसू,
तुम्हारी बेबस आँखों से ।

कस कर,
भीच ली थी मैंने अपनी आँखें
समझ नही पाया
उस स्वप्न का अर्थ,
यह
मेरा भ्रम था,
कल्पना थी
या
वास्तविकता ?

आँसुओं का संगीत

कब्रगाह की नीरवता को
भंग करती
सिसकते साजों की आवाज
मौन पड़ी
वीणा को
झंकृत करने का प्रयास,
वीणा के
टूटते तार
सिसकते गीत
कराह बनता संगीत
और
बेपनाह आँसुओं का समुन्दर
मैंने देखा है!

क्यों ?

हर पल
ढेर सारे
उठते प्रश्न
अनुत्तरित—
एक बिंदु पर जा कर
खामोश क्यों हो जाते है ?
क्यों हो जाते है
आखिर !

तुम्हारी छवि

जाड़े की
कुहरे वाली सुबह में
एक परछाईं की तरह
दिन प्रतिदिन
धुँधली होती तुम्हारी छवि
अचानक
स्पष्ट क्यों हो जाती है ?

अपने लिए

न मालूम क्यों
हारता चला गया मैं
इसलिए कि
शायद मैंने
कई मोड़ो पर
एक साथ
कई-कई समझौते किये।

सिर्फ इसलिए
कई बार तोड़े मैंने
अपने उसूल
कि शायद
तुम यही चाहती थी।

एक मौन
साधा मैंने

उन
तमाम मुद्दों पर
चुप रहा
जहाँ,
फूट पड़ता था मैं
ज्वालामुखी सा
लेकिन,
अंततः
हासिल हुआ मुझे
सिर्फ अकेलापन !

मैं
लौट जाना चाहता हूँ
बार बार
अपनी
उसी पुरानी स्थिति में
लेकिन,
हर बार
फिर से
यकायक बहक जाते हैं
मेरे कदम ।

चल पड़ता हूँ मैं
उन्ही रास्तों पर
जहाँ,

आदत के विपरीत
करना पड़ता है मुझे
'एक और' समझौता
अपने लिए
और
तुम्हारे लिए भी शायद !

कब तक टिकोगे ?

स्वय
विषपान कर
तुम
कब तक देते रहोगे
सबको अमृत ?

हँसते है सब तुम पर
शिव,
सुकरात और
न जाने क्या-क्या
कहते है वे तुम्हें
व्यंग्य से।

नही मालूम तुम्हे रस्मो रिवाज
इस समाज का

मान कर
हर एक को
सत्य एवं सुन्दर
कब तक टिकोगे तुम
आखिर
इस
खोखले ससार में।

कसे जीते हैं लोग

अलग होकर अपने से
कैसे जीते है लोग
टूट टूट कर
बिखर बिखर कर ।

ले पाते है कैसे
घुटन भरी हवा मे साँस
अविश्वास के वातावरण में
आखिर कब तक टिकेगा
उनका
आत्मविश्वास ?

वेदना

चेहरे पर
उभर आयी वेदना
दिखती होगी तुम्हें
उड़ती हुई
कपूर की तरह
लेकिन,
सच तो यह है कि
बैठ जाती है वह
भारी होकर पारे की तरह
कहीं
दिल में !

खामोशी के बीच

पिछली गर्मी में
मेरी छत के ऊपर
हंसों का एक जोड़ा गुजरा था
याद है तुम्हें ?

हँस कर तुमने
बजायी थीं जोर से तालियाँ
और
अलग अलग हो गये थे वे ।

'मुझे तुम्हारा
तालियाँ बजाना
कतई पसन्द नहीं'
कहा था मैंने
भूल गये शायद इसे तुम

खामोशी के बीच
लगातार बजती तालियों ने
फिर एक बार
अलग कर दिया
हंस के जोड़े को !

कब, क्यों और कैसे

उतार कर देता हूँ मैं तस्वीरें
बनते है उनसे ब्लाक
छपते है वे चित्र
और
संदर्भहीन मान कर
बाद मे
फेंक दिया जाता है उन तस्वीरों को
रद्दी की टोकरी में।

ठीक इसी तरह
संदर्भहीन होकर
कट गया मैं भी
अपने आप से
कब ?
क्यों ? और कैसे ?
मुझे खुद भी नहीं मालूम।

क्यों ?

आसमान
जमीन
दरिया
और सूरज—
सुबह कुछ !
शाम कुछ !!

गुनहगार कौन ?

क्यों नहीं
उठा कर फेंक देते
इन पैबन्द लगे चीथड़ों को,
कितने बेमानी से
लगते है
तुम्हारी जिल्द बने ये ।

देखा है कभी स्वयं को
दूसरों की निगाहों से ?
सच !
नजर आने लगेगा सब कुछ
साफ-साफ
फिल्म के स्क्रीन सा

और तब…
तब

तुम
कभी भी
गुनहगार कह कर
सम्बोधित नही कर सकोगे मुझे—

नही थी
कही भी
कील की परछाईं तक
मैं
हँस पड़ा था
उसके पागलपन पर

आज
मैंने पूछा किसी से
यूँ ही
'तुम ईसा मसीह तो नही ?'

पहले,
घूरा उसने मुझे
एक 'पागल' की तरह
और फिर
पड़ा था
मेरे गाल पर
एक जोरदार तमाचा
टपका था उसमे से लहू

मुझे लगा अचानक
टँगा हूँ मैं,
किसी सलीब पर
हाथों और पैरों मे मेरे

ठुकी है कीलें,
बह रहा है उसमें से खून
गुजर रहा है जो
लोगों की
आँखो के सामने से
और लोग
समझ रहे है उसे
सिर्फ लाल रंग
अनदेखा करते उसे
चले जा रहे है।

चीख चीख कर आज
कह रहा हूँ मै
स्टेशन पर
"हाँ
मैं ईसा हूँ"

हँसे जा रहे है सब
वह पागल औरत भी
नही सुनती मेरी बात

मै चीखे जा रहा हूँ
हा हा
लटके है हम सब
'सलीबो' पर

हम सब
ईसा हैं !
ईसा है !
लेकिन,
मेरी आवाज
रह जाती है
दब कर
रेल के इंजनों
और
सीटियों में,
नही सुनता उन्हें कोई,
कोइ भी नही सुनता ।

तुम्हारा मौन

क्यूँ
लड़खड़ा गये तुम्हारे कदम
डर कर
हो लिये पीछे
एक मामूली झंझावात से ?

सच !
विडम्बना ही तो है
क्या हो गया
तूफानो का भी,
मुकाबला करने वाले
तुम्हारे
जुझारू व्यक्तित्व को ?

मौन !
और
केवल मौन !!

क्यो नही
प्रस्फुटित होती तुम्हारी वाणी ?
अनन्त
ऊँचाइयो तक
उडने का तुम्हारा सकल्प,
वन कर
रह गया मात्र एक दिवा स्वप्न ?

मुकावले का प्रयास
सिर्फ एक वार ।
हार गये न !!

नही देखा मैने
तुम्हे
कभी भी असहाय
फिर,
तुम्हारे इन
लडखड़ाते कदमो को देख
उन्हें कौन सी उक्ति दूँ ?

आकाशदीप वन
पथ प्रशस्त करते तुम
आज
मौन क्यो हो गये ?

कटे अंगों का दर्द

लिखा था
एक बार मैंने,
"कितना अजीब लगता होगा
अपने अगों को काट कर
उन्हें निहारना"
उस समय
रहा होगा यह वाक्य
किसी नाटक का
एक अश
लेकिन,
अब
जब महसूस करता हूँ मैं
कभी भी
तुम्हारे स्नेह को
अपने से अलग हुआ

तो सच,
कराह उठती है मेरी आत्मा !

"क्यों देते हो
किसी को
इतना स्नेह
कि वह
जीने की इच्छा
रखने लगे"
मेरी
यह शिकायत
शायद
गलत तो नही

सच !
अपने अगो को
काट कर
मैं
उन्हे
देख नही पाऊँगा।

अनुभूति !

ख़ूबसूरत है
कैक्टस के लाल फूल
अनगिनत
चुभन भी है/उनके बीच शायद
जानते है वे इसे
फिर भी
ले रहे है चुंबन उसका
कैसा विरोधाभास है यह
लहूलुहान होठों पर भी
हो रही है उन्हें
अनुभूति,
आनन्द की।

अहसास की गहराई

अब
समुद्रों के किनारे
मोती तो क्या—
सीपियाँ भी नही मिलती

सुना है
कुछ ऐसे जानवर
समुद्र के किनारे घूम रहे है जो
मछलियों का नही,
सीपियों का शिकार करते हैं ।

कुछ कहते है—
सीपियाँ
मोतियों को ले कर
अगाध समुद्र में डूब गयी है

क्योंकि,
उन्हे डर है कि
मोती के साथ ही साथ
वे भी
कर ली जायेगी,
"उनके" द्वारा उदरस्थ
लेकिन,
सच तो यह है कि
अब
सीप के अन्दर
मोती बनता ही नही
क्योकि
सीपियों ने
विद्रोह कर दिया है।

अब
स्वाति नक्षत्र में सीप
अपना मुँह ही नही खोलती
और
इसीलिए वह
बीच समुद्र मे सोती है।

वे जानवर,
समुद्र में कूद रहे है
सीपियों को निगलने के चक्कर में
खुद डूब रहे है

कल
सीपियाँ बात कर रही थीं,
कि जब सारे जानवर डूब जायेंगे
तो हम
फिर बाहर आयेंगी
और
समुद्र के किनारे घूमेंगी।

तुम्हारी तलाश

नही मालूम
कब
और किस विन्दु पर
छोडा था तुमने मुझे,
अदृश्य हो गये थे तुम
यकायक !
और मैं
तलाशता रहा तुम्हें
समुद्र की
लहरो के मध्य
तारों के वीच
आकाश में
अपने अजनवीपन में !

जब मिलते हो मुझे तुम
छिपने लगता है सूरज,

उसकी लाल रोशनी में
दूर से दिखते हो

और जब
पहुँचता हूँ मैं दौड़ कर
तुम्हारे पास
तुम्हें घेर लेता है
एक अँधेरा,
उसी में
गुम हो जाते हो तुम
और मैं
तलाशता रहता हूँ तुम्हें
रोशनी होने तक ।

घरौंदा टूट गया

महसूस करता रहा मैं,
घूरता रहा उसे,
अनमनस्क सा, चुपचाप।

लगा था मुझे
कहीं,
किसी बिन्दु पर शायद,
जोड़ी है
एक ईंट मैंने भी
इसकी नेह में
उखाड़ दी जायेगी जो
मेरे सामने।

घुटन के बीच
अचानक एक दिन

सब कुछ बिखर गया,
नेह का बंध
न जाने कब
टूट गया
और
वह आधारशिला,
टिका था जिस पर
कभी "कुछ"
अनन्त शून्य में
विलीन हो गयी कहीं।

एक "घर"
घरौंदे-सा
टूट गया था !
फूट गया था !!

मे

उस मुसाफिर की तरह है
मेरी जिन्दगी
जिसकी गाड़ी
स्टेशन पहुँचते पहुँचते
छोड़ जाती है प्लेटफार्म
वह हतप्रभ
एक कोने मे बैठ जाता है।

उसे
बैठने भी नही दिया जाता
वहाँ पर,
आता है कभी कोई कुली
सामान की गाड़ी ले कर
और
बिगड़ जाता है देख कर उसे

तो कभी
कोई 'हाकर''
अखबारों, पत्रिकाओं
या फलों का
लेकर टोकरा
उगलता हुआ
बीड़ी का धुँआ
अपने मुँह से
व्यंग करता उस पर
चला जाता है।

आती है दूसरी गाड़ी जब
प्लेटफार्म पर,
दौड़ कर पकड़ लेना चाहता है
वह उसे
लेकिन
रह जाता है फँस कर
भीड़ की धक्का मुक्की में
और ट्रेन
धीरे-धीरे
गति पकड़ती
आगे बढ़ जाती है।

मैं, तुम और उसका आँचल

मैंने तुम्हारी
हर बेमानी बात को,
बड़ी गम्भीरता से लिया है।

नही मालूम तुम्हे शायद
मैंने
लगाये थे तुम्हारे लिये
दो
छोटे-छोटे पौधे
गुलमोहर के—
क्योंकि तुम्हें
लाल रंग,
बेहद पसन्द था।

हाँ,
नही बताया मैंने

तुम्हें कभी भी,
आश्चर्य चकित कर देना
चाहता था मैं तुम्हें
लेकिन,
लेकिन तुमने
एक पागल घोड़े को
दौड़ा कर
कुचलवा डाला मेरे
गुलमोहर को।

मेरी आँखों से,
टपक भी न पाया
एक बूँद आँसू,
क्योंकि मैं
हतप्रभ हो गया था
तुम्हारे
इस पागलपन से।

तुमने
कहा था—
"ये गुलमोहर नहीं
बबूल है
और इसीलिए
जब अपने
कुचले गुलमोहर को

मैने
काँपते हाथो से उठाया
तो
उसका चेतनाशून्य स्पर्श
मेरी
उँगली मे चुभ गया
ढेर सारा दर्द
रिस गया।

मेरी आँखे
न जाने क्यो
पनीली हो गयी।

उसी समय
कही से
एक लहराता आँचल आया
और
धीरे से छू गया
मेरी आँखों की
नम कोरो को,
मैं
फफक कर रो पड़ा।

मैं
फफक कर रो पड़ा और बोला,

"काश"
मुझे वापस मिल पाता
मेरा गुलमोहर
तो मैं
दूर, बहुत दूर
एक
ऐसे कोने पर
उसे रोपता
जहाँ,
कोई दौड़ा न सके
अपना पगला घोड़ा।

मैं
अपने खिलते
गुलमोहर के नीचे
चैन से
सो सकता
रोज
ढेर सारी
पंखुरियाँ बटोरता
और
भर देता उस आँचल में,
जिसने
मेरे आँसुओं को
सहेजा था।

मैं और तुम्हारा मौन

होता रहा है मुझे
एक अहसास
पीलेपन की परछाईं का
तुम्हारे
उल्लसित चेहरे के पीछे।

पाता हूँ उसमें
एक रहस्यमयता,
अनावृत कर देना चाहता हूँ
एक मान्यता को,
जर्जर लेकिन
लम्बी जड़ों वाली मान्यता।

छिपा रखी है जिसने,
अपने अन्दर

न मालूम कितनी इच्छाएँ,
एक
अनर्गल मानसिकता
शब्द देने में ही जिसे
छिलने लगती है जवान
कहते नहीं बनता
कुछ भी
सिवाय इसके कि
आँखों में भर कर
एक दर्द
उसे सिर्फ
रिसने दिया जाय।

रातें

एक रात
दो रात
और बीत जायेगी
न मालूम कितनी रातें,
टपकेंगे असंख्य मोती
जिनका मूल्य
सिर्फ मैं जानता हूँ।

मैंने देखा है तुम्हें
ठूंठ नीम की तरह
सिहरते।

न मालूम कितनी बार
देखा है

न मालूम कितनी इच्छाएँ,
एक
अनर्गल मानसिकता
शब्द देने में ही जिसे
छिलने लगती है जबान
कहते नहीं बनता
कुछ भी
सिवाय इसके कि
आँखों में भर कर
एक दर्द
उसे सिर्फ
रिसने दिया जाय।

रातें

एक रात
दो रात
और बीत जायेगी
न मालूम कितनी रातें,
टपकेंगे असंख्य मोती
जिनका मूल्य
सिर्फ मैं जानता हूँ ।

मैंने देखा है तुम्हें
ठूँठ नीम की तरह
सिहरते ।

न मालूम कितनी बार
देखा है

उमड़ते हुए
कसक और सिसकियो का
एक सैलाव।

लेकिन मैं
हर वार विवश हूँ मूक दर्शक वन
क्योकि,
इसके अतिरिक्त
मेरी अर्थवत्ता
कुछ भी नही।

मान लिया है तुमने
अपनी पीड़ा को "नियति"

तुम्हारा यह कहना
"जव 'वह' सव कुछ
देख रहा
तो फिर
किससे क्या गिला"
डिगा देता है
वार-वार
मेरी आस्था को।

मैं,
सचमुच

अदना हो जाता हूँ,
अपनी पहचान
खो देता हूँ।

देखता हूँ
सामने पड़े,
आदमकद शीशे में
अपनी शक्ल,
घृणा होने लगती है
अपने आप से
डर जाता हूँ।

दिखता है आईने में,
मेरा वास्तविक चेहरा
विकृति लिए हुए
एक पशु की तरह
और
कहीं एक कोने मे
दिखता है तुम्हारा
नुचा चेहरा
अनन्त की ओर
उठी निगाहें
जो,

चिपक जाती है
मेरे चेहरे पर।

एक,
घृणादृष्टि
और उसके बाद
एक जोरदार
अट्टहास।

"मुझे मालूम है
तुम क्या कहना चाहते हो ?
मेरी,
प्रश्न सूचक निगाहों को
देख कर कहा था तुमने।

फिर
सामान्य होने की
प्रक्रिया में होती तुम
एकदम बिफर पड़ी थी,
फूट-फूट कर
रोती रही तुम
सिर्फ यह कहती हुई
"काश!
ईश्वर ने मुझे
रचा ही न होता"

सचमुच !

तुम्हारी इस उक्ति को सुन
मैं फिर
बन जाता हूँ एक मूक दर्शक
कुछ भी नही कहता
या
सच कहा जाय तो
मैं बोलना चाहता भी नही,
कुछ भी नहीं ।

खंडहरों के बीच तुम

क्यों ?
आखिर क्यों करना चाहते हो,
तुम आबाद
इन,
टूटे हुए खड्हरो को।

गिरी हुई दीवारो,
टूटी छत
और
वीरान होती इस वस्ती को
नहीं कर सकोगे,
तुम आवाद,
अपनी नन्ही आशाओं के बल पर !

इतिहास है यह
इसे इतिहास ही रहने दो

हमेशा से,
ऐसे ही रहे है ये खडहर
और
रहेगे ये ऐसे ही
अत तक शायद।

सँवारने,
सजाने का इसे
निरर्थक ही होगा,
तुम्हारा हर प्रयास,
न हो अत
जिस कथा का
उसे,
शुरू करने से क्या लाभ ?

क्यों ? क्यों ?? और क्यों ???

क्यों ?
आखिर क्यो होता है ऐसा ?

चीथड़े-चीथड़े कर
फेंक देता हूँ मैं,
अपनी डायरी का एक-एक पन्ना,
बिखरा देता हूँ,
अलग-अलग कर उन्हे,
लेकिन
जुड़ जाते है वे
न मालूम कैसे कालान्तर में
और,
खड़े हो जाते है,
एक नये रूप मे मेरे सामने।

नही जानता मै,
क्यों ?
क्यों होता है ऐसा ?

वह आदिवासी

जेहन में
प्रश्नों के पर
टूट कर बिखर गये है !

वह आदिवासी
जंगल में झूल गया है
रस्सी के सहारे
और खामोश हो गया है
पूरा का पूरा लम्बा तना पेड़ ।

उन आँखों में आक्रोश, दर्द, दर्प कुछ भी नहीं
जो उबल पड़ी है महज दबाव से

कुछ भी तो नया नहीं हुआ है
उसके साथ
शक्तिशाली सूरज रोज उगता है
रोज कटते है जिस्म
और टूटते है बेपनाह लोग
सूई की हर टिक के साथ ।

उसकी बीवी को
अपने पजो से नोच लिया
किसी सवर्ण ने
बस !
फिर क्यों ?
मुझ पर गाज की तरह
गिर पड़े है प्रश्न ।

नही !
जिन्दगी का नया ककहरा
पढा गया वह आदिवासी ।

जब बर्दाश्त नही होती पीड़ा
और सवेदना मरी नही होती
एक जिस्म को लटक जाना होता है
रस्सी से
जिस्म आदिवासी का हो या सवर्ण का
कोई फर्क नही पड़ता ।

छूट गया फिर
सिरा युद्ध का
एक बेवा, लुटी-पिटी सी
दौड़ रही है
मुखौटों में छिपे दरिन्दों के चारों ओर
हाथ फैलाये, कातर आवाज में
न्याय की भीख माँगती !

देखना कहीं, किसी सूनसान रास्ते पर
नुची, टूटी-सूखे होठों वाली
उस विधवा को
तो मेरी ओर से कह देना
दीवारों से सर टकराने से क्या होगा?
अब भी खड़ा है वह पेड़
और साबूत है—रस्सी
उसे एक टूटे जिस्म की तलाश है !

फिर
ये प्रश्नों के प्रहार
मुझे क्यों पागल कर रहे हैं।

मैं न तो जिस्म हूँ, न पंजा
और न ही मुखौटा
मैं हूँ सिर्फ डरा हुआ
सहमा खरगोश !

यह साजिश किसकी है ?

क्या बात है ?
आज
नही दीखता कोई परिंदा
आसमान के किसी कोने मे
न मालूम
सब कहाँ
किस ओर चले गये ।

ठीक मेरे घर के सामने वाले पीपल पर
बैठने वाली ललमुनिया
और सुबह शाम
मुँडेर पर चोंचे घिसने वाली गौरैया
किधर चली गयी ।

आसमान नीला नही
लाल हो रहा है
क्षितिज से—

लाल लाल ज्वालाओं की तरह
रौशनी
धीरे धीरे
सारे आसमान को
अपने आप में
समाहित कर रही है
और,
एक कोने से
ऊपर की ओर उठता
काला बादल
भयानक शक्ल मे
तब्दील हो रहा है

आसमान सुर्ख हो रहा है
लाल भभूका
आसमान में
कोई नरसंहार हुआ है क्या ?
या
किसी ने कर दी है कोई साजिश
सारे परिंदों को
भयाक्रांत कर
कही और जाने के लिए
कर दिया है मजबूर

यह साजिश किसकी है
किसकी है यह साजिश ?

सिलसिला जारी रहेगा

पूरब से
पश्चिम की ओर
बढ रहा है
एक अंधेरा।

गाँवों की ओर
लौटते कदम
कधो पर
लकड़ियों के गट्ठर,
और
बैलों के जुए।

टुन्न टुन्न
घटियो की आवाज
झूमते बैल।

ड्योढी पर
पगुराती गाय
बाट जोहती
एक असहाय !

इस घर में
आज भी
चूल्हा नहीं जलेगा
रमुआ को
उसके मालिक ने
आज फिर
पैसे नही दिए है।

घर पर
भूखा बच्चा,
रोती
सूजी आँखें
धँसे हुए पेट
महुए की लप्सी
उसमें
मुँह डालता
एक कुत्ता !
रमुआ सब देखता है,
उसका मालिक
कुछ भी नही।

रमुआ का मालिक
जानता है
जब
बच्चा भूखा रहेगा,
रोयेगा,
चीखेगा,
खाँसी आयेगी
खून थूकेगा,
तब रमुआ
झक मार कर
उसके पास आयेगा
और
घुटने टेक देगा।

कुछ दिनो बाद
रमुआ के साथ
उसकी बीबी भी
काम पर आयेगी
और
एक दिन
उसकी लाश
गाँव के कुएँ मे
पायी जायेगी।

कोई
कुछ नही बोलेगा

सारा केस
रफा दफा
हो जायेगा।

पुलिस की
रिपोर्ट में
लिखा होगा
एक औरत ने
तंग आकर
भूख से,
कुएँ में कूद
आत्म हत्या कर ली है
और
इस तरह की
आत्म हत्याओं का सिलसिला
आगे भी
जारी रहेगा !

हार नहीं

मेरे दोस्त !
यदि तुम्हारी बातों को सुन
मेरा आक्रोश नही फूटा
तो,
इसका मतलब
यह कत्तई नही
कि मेरी शिराओं का खून
जम चुका है
या,
मेरे मुँह मे जबान नही।

तुम्हारी व्यंग्योक्तियाँ सुन
यदि
चुप रह जाता हूँ मै

तो यह मेरी मजबूरी है
हार नहीं।

तुम्हें लगता होगा
तुम जीत गये
लेकिन
सच तो यह है मेरे दोस्त
कि हर
हार और जीत का फैसला
कोई तीसरा करता है
हम नहीं !

मेरे दोस्त !
यहाँ
सिर्फ लोग देखते है,
यहाँ बोलती है
सिर्फ निरीह आँखे
जो
कभी-कभी
धधक उठती है,
लाल अंगारे सी,
और तब
बड़ी तेजी से
फूटता है
एक ज्वालामुखी

जो,
अपने साथ
समाप्त कर देता है
सब कुछ।

मैं चुप हूँ
मेरे दोस्त
लेकिन
मेरी शिराओं में
अब भी
दौड़ रहा है खून
पहले की ही तरह!



विजय अग्रवाल

जन्म : ११ नवम्बर १९५७, इलाहाबाद

शिक्षा : इलाहाबाद विश्वविद्यालय से रसायनशास्त्र में डी. फिल.

विद्यार्थी जीवन से ही पत्रकारिता में रुचि। वहीं से सामान्य जन-जीवन के सम्पर्क में विसंगतियों का चित्रण करते-करते कविताएँ लिखनी शुरू की। एक कुशल छायाकार के रूप में प्रतिष्ठित। यह पहला काव्य संग्रह।

सम्प्रति पत्रकारिता, स्वतंत्र लेखन एवं शोध।